❀ श्री वीतरागाय नमः ❀

ट्रैक्ट नं० ६

व्याख्यान मौक्तिक

अर्थात्

जैनाचार्य श्री १०८ श्रीमद्विजयानन्दसूरि उर्फ श्री आत्मारामजीके पट्टधर, जैनाचार्य श्री मद्विजयवल्लभ जी सूरि महाराजके

❀ दो व्याख्यान ❀

अनुवादक—

पंडित हंसराज शास्त्री

प्रकाशक—

मंत्री-श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी-अंबाला शहर।

श्री वीरनिर्वाण २४५१. विक्रम संवत् १९८२. | द्वितीयावृत्ति मूल्य ।) | श्री आत्म संवत् ३० ई० सन् १९२५.

सत्यव्रत शर्मा द्वारा, शान्ति प्रेस, आगरा में मुद्रित।

स्वर्गस्थ न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री श्री १००८ श्री मुद्विजयानन्द
सूरि (आत्मारामजी महाराजके प्रसिद्ध रत्न श्री १००८
मुनि वल्लभ विजयजी महाराज।

निवेदन

ये दोनों व्याख्यान बड़ौदा से निकलने वाले "सयाजी विजय" और "हिन्द विजय" नाम के गुजराती भाषा के साप्ताहिक तथा भावनगर (काठियावाड़) से प्रकाशित होने वाले श्री आत्मानन्द प्रकाश नाम के गुजराती मासिक में सार रूप से निकल चुके हैं। वक्ता महात्मा का व्याख्यान प्रथम हिन्दी भाषा में हुआ था उसका आशय अनुवाद रूप से उक्त पत्रों में प्रसिद्ध हुआ है। श्री आत्मानन्द जैन सभा अम्बाला शहर (पंजाब) की प्रेरणा से उक्त पत्रों से मैंने हिन्दी भाषा में, अनुवाद किया है। अनुवाद केवल आशय रूप है। वक्ता महात्मा ने जिस ओजस्विनी भाषा में सारगर्भित वक्तृता दी थी उसका मुझे मात्र स्मरण ही है, उन शब्दों का विन्यास मेरे लिये अशक्य है। अन्त में पाठकों से सविनय निवेदन है कि, वे इन व्याख्यानों को पढ़ कर कुछ लाभ अवश्य उठावें।

निवेदक—

आपका विमल सहचर "हंस"

प्रस्तावना

पाठकों को विदित हो कि, ९ और १६ मार्च १९१३ के रविवार को शाम के चार बजे महाराजा बड़ौदा नरेश के न्याय मंदिर में, न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्रीमद्विजयानन्दसूरि उर्फ आत्मारामजी के मुख्य शिष्य मुनि महाराज श्रीलक्ष्मीविजय जी के प्रशिष्यरत्न प्रसिद्धवक्ता मुनिराज श्री वल्लभविजय जी के, उक्त सूरि महाराज के प्रशिष्यरत्न प्रसिद्ध विद्वान् शान्तमूर्ति मुनिमहाराज श्री हंसविजय जी की अध्यक्षता में, बड़े ही प्रभावशाली दो व्याख्यान हुए थे। प्रथम व्याख्यान "धर्मतत्व" और दूसरा "सार्वजनिक धर्म" के विषय पर हुआ था। व्याख्यान के समय श्रोताओं की संख्या आशातीत थी। राजकीय तथा व्यापारी वर्ग के प्रतिष्ठित पुरुष अधिक संख्या में उपस्थित थे। जिनमें श्री हि. रा. आनन्दराव गायकवाड़, दी. ब. समर्थ साहब, श्री रा. रा. सम्पतराव गायकवाड़, श्री अवचितराव. गायकवाड़, रायबहादुर हरगोविन्ददास द्वारकादास कांटावाला, श्री. रा. रा. नृसिंहराव घोरपड़े, श्री बापोजीराव राजशीर्के, रा. रा. चिमनलाल सामलदास, रायबहादुर लक्ष्मीलाल दौलतराम, रा. रा. रामचन्द्र दिनकर फड़के, केपटन बलदेवप्रसाद और मे. नवाब सदरुद्दीन, साहब आदि सभ्य जन भी उपस्थित थे। इनके सिवा जैन जैनेतर और भी प्रतिष्ठित तथा साधारण वर्ग, कई सहस्र की संख्या में

हाजिर था। स्त्रियों के बैठने के लिए हाल की गैलरी में प्रबंध किया गया था।

व्याख्यान के समय से प्रथम ही श्रोताओं से सभा मंडप ठसाठस भर गया था। निर्दिष्ट समय पर सभापति और व्याख्यान-दाता के (अपने शिष्य वर्ग सहित सभा मंडप में) पधारने पर सबने उठ कर करतल ध्वनि से उनका सत्कार किया।

सभापति महोदय और वक्ता महाशय तथा अन्य साधु वर्ग के निर्दिष्ट आसनों पर बैठ जाने के बाद, बड़ौदा के रईस मिस्टर "लालभाई" जौहरी ने उपस्थित श्रोताओं के एकत्रित होने का हेतु बतलाते हुए कहा—

मिस्टर लालभाई का व्याख्यान।

सद्गृहस्थो! आप लोग जिस विद्वान् वक्ता का व्याख्यान श्रवण करने के लिए अधीर हो रहे हैं, उनका आपको कुछ परि-चय दिलाना मैं आवश्यक समझता हूं। आज के व्याख्यानदाता मुनिराज श्री वल्लभ विजय जी प्रौढ़ विद्वान् होने के सिवा आबाल ब्रह्मचारी हैं। आपने चौदह वर्ष की उमर से ही सांसारिक वैभव को त्याग कर कुछ समय बाद दीक्षा व्रत-सन्यास व्रत ग्रहण किया है। आत्मिक उन्नति और परोपकार के उद्देश्य से बाल्यकाल में ही किया हुआ, आपका संसार (विषय सुख) त्याग, प्रशस्त जीवन के अभिलाषी, प्रत्येक मनुष्य के लिये अनुकरणीय और अभिनन्दनीय है। गुजराती भाषा का ज्ञान आपको गृहस्थ दशा में ही पर्याप्त था। सन्यास व्रत ग्रहण करने के बाद आपने संस्कृत

और प्राकृत भाषा का भी असाधारण ज्ञान प्राप्त किया है। आप जैन दर्शन के विशेष ज्ञाता होने के सिवा, अन्य दर्शनों के भी जानकार हैं। दीक्षाकाल से लेकर आपने अपना पवित्र जीवन पंजाब देश की पवित्र भूमि में उत्पन्न होने वाले नररत्न स्वर्गवासी जैनाचार्य श्रीमद्विजयानन्दसूरि उर्फ आत्माराम जी महाराज के पास ही व्यतीत किया है। इसीलिए अधिक समय पंजाब में ही विचरे हैं। जब तक उक्त स्वर्गवासी महात्मा जीवित रहे तब तक आपने उन का संग नहीं छोड़ा आपने वहां रह कर ही शास्त्रीय योग्यता प्राप्त की है। आप में जितना विद्या विभव देखने में आता है वह सब उन्हीं महात्मा की अनन्य कृपा का फल है।

उक्त सूरि महाराज के स्वर्गगमन के बाद भी आप पंजाब में ही पर्यटन करते रहे हैं। अभी तीन वर्ष से आप पंजाब से पैदल ही चल कर हिन्दोस्तान के भिन्न २ प्रदेशों में फिरते और सदुपदेश देते हुए हमारे सौभाग्य से यहां पर पधारे हैं आप लोगों को यह तो विदित होगा कि,जैन साधु पैसा वगैरह पास न रखने के साथ२ किसी तरह की सवारी भी नहीं करते। अर्थात् नंगे पाओं पैदल ही सर्वत्र आते जाते हैं। (विस्मय) जैन धर्म के सिद्धान्तानुसार साधु वही कहला सकता है, जो संसार के लिए भार रूप न हो। और किसी भी सांसारिक वस्तु में ममत्व न रखे-अर्थात् द्रव्य और मकान वगैरह का संग्रह न करे। एवं किसी जीव को दुःख देने वाला न हो। तथा परोपकार परायण और परमार्थिक तत्व का ही अभिलाषी हो। (बेशक। बेशक की आवाज) आपकी विद्वत्ता और

साधुता के सम्बन्ध में विशेष कहना सोने पर पानी चढ़ाने के समान है। आप स्वयं ही अनुभव कर लेंगे।

सभ्यवृन्दो! जिस प्रकार अपने महाराज साहब के न्याय शासन और प्रजाप्रियता आदि श्रेष्ठ गुणों द्वारा संसार भर में फैलने वाली निर्मल कीर्ति का हमे अभिमान है, इसी तरह मुनि श्री वल्लभविजय महाराज की जन्मभूमि बड़ौदा होने से आपके निर्मल चारित्र और परोपकारी जीवन पर भी हमें अभिमान है! (करतलध्वनिः) इसलिए ऐसे योग्य महात्मा के सद्व्याख्यान से आप अवश्य लाभ उठायेंगे ऐसी मुझे आशा है।

सभापति जी का व्याख्यान।

मि० लालभाई के बैठ जाने के बाद सभापति महोदय शान्तमूर्त्ति मुनि श्री हंसविजय जी महाराजे ने मंगलाचरण में—

" यस्य निखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ॥
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥"

यह श्लोक उच्चारण कर कहा कि—

उपस्थित महानुभावो! प्राचीन ऋषि मुनियों ने संसार की भलाई के लिए जिस अमूल्य संस्कृत और प्राकृत साहित्य भंडार का निर्माण किया है, उसमें से एक सुनहरी वाक्य अवश्य ही मनन करने योग्य है! इतना ही नहीं बल्कि प्रत्येक मनुष्य को उसे अपने हृदय पर अङ्कित कर लेना चाहिये! वह वाक्य यह है कि—"बुद्धेः फलं तत्वविचारणं च, देहस्य सारं व्रतधारणं च। वित्तस्य सारं सुपात्रदानं, वाचः फलं प्रीतिकरं नराणाम्" अर्थात् बुद्धि का

फल है तत्व का विचार करना। तात्पर्य कि जो मनुष्य बुद्धि रखता हुआ तत्व का विचार नहीं करता, वह बुद्धि जैसे अमूल्य रत्न को निरुपयोगी बनाता हुआ व्यर्थ ही खो रहा है। इसलिए बुद्धिमानों को आवश्यक है कि, वह "मुझे क्या करना चाहिये? क्या त्यागना चाहिए? मेरे लिए क्या हेय है? और क्या उपादेय है? इत्यादि बातों का अवश्य विचार करे। एवं व्रत धारण करना, यथा शक्ति आभ्यंतर और बाह्य तप करना देह का सार है। पूर्व जन्म में अनेक शुभ कार्यों के अनुष्ठान से प्राप्त हुए मनुष्य शरीर को सामाजिक तथा धार्मिक उन्नति के लिए उपयोगी बनाने में तप बड़ा उत्तम साधन है। पात्र में दान करना द्रव्य का सार है। तात्पर्य कि, नीतिपूर्वक द्रव्य का व्यय करना ही उसके पाने का सार है। जो मनुष्य परोपकार में लगाने के बदले धन का दुर्व्यसनों में व्यय करते हैं वे लोग धन प्राप्ति का कुछ भी महत्व न समझते हुए केवल उसके नाश करने में ही तत्पर हो रहे हैं। एवं जो लोग केवल धन के संचय करने में ही दत्तचित्त हैं और किसी भी दानादि सत्कार्य में उसका व्यय नहीं करते उनको स्मरण रहे, जब अंत समय आयगा तो उनको मधु मक्खी की तरह हाथ मलते मलते पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा।

सद्गृहस्थो! एक वक्त दरबार में एक स्थान में बैठी हुई एक मक्खी को देख कर महाराजा भोजने मन्त्री से पूछा कि, यह मक्खी हाथ क्यों मल रही है? बुद्धिशाली मन्त्री ने कहा कि:—

"देयं भोज धनं धनं सुकृतिभिर्नो संचनीयं कदा,
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।

अस्माकं मधु दानभोगरहितं कष्टैश्चिरात्सेवितम् ।
लुप्तं तन्मधु पादपाणियुगलं घर्षत्यसौ मक्षिका ॥ १ ॥ ”

राजन् ! यह मक्खी कहती है कि, हम मधु को तैयार करके न तो उसे किसी को देती हैं और नाहीं उसको स्वयं ही उपभोग में लाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि, निष्ठुर लोग हमें छिन्न भिन्न कर उसे लूट ले जाते हैं। और हम वैसी की वैसी ही हाथ मलती रह जाती हैं। इसलिये हाथ और पाओं को मलती हुई यह मक्खी हमको यह उपदेश कर रही है कि जो लोग धन इकट्ठा करके किसी सत्कार्य में नहीं लगाते, उनकी अन्त में हमारी जैसी ही दशा होने को है। अर्थात् उनको हमारी ही तरह हाथ पांव मलना, और पश्चात्ताप करना पड़ेगा। अतः दान और परोपकार में द्रव्य का व्यय करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है (बहुत ठीक है की आवाज के साथ करतलध्वनि) सज्जनो! विक्रम और कर्णादि जैसे राजा महाराजाओं की कीर्ति को आज तक स्थित रखने वाला यह दान ही है। इसी तरह मनुष्य मात्र से प्रेमपूर्वक मधुर भाषण करना वाणी पाने का सार है। मनुष्य को ऐसा शब्द उच्चारण करना उचित है, जिससे किसी को दुःख न हो। जिस तरह तत्व का विचार करना जरूरी है, इसी तरह तप का अनुष्ठान करना भी आवश्यक है। जैसे द्रव्यवान होकर दानादि सत्कार्यों में द्रव्य खरचने की जरूरत है, ऐसे ही सत्यमिश्रित मधुर बोलने की भी बड़ी भारी आवश्यकता है। आशा है कि मेरे इस स्वल्प उपदेश पर आप लोग अवश्य लक्ष्य देंगे। अब मैं आज के व्याख्याता

महोदय को व्याख्यान देने के लिए सूचना देता हुआ अपने कथन को समाप्त करता हूँ।

गृहस्थो ! व्याख्यानदाता की विद्वत्ता संबंधी गुणों का वर्णन करना सूर्य को अँगुली से दिखलाने के समान है। इनकी विद्वत्ता से आप स्वयं ही परिचित हो जावेंगे। सभापतिजी ने करतलध्वनि के साथ अपना वक्तव्य समाप्त किया।

इसके बाद वक्ता महाशय का विद्वत्ता भरा बड़ा ही प्रभावशाली व्याख्यान हुआ, जो कि, अन्यत्र प्रकाशित है। व्याख्यान समाप्त होने के बाद रा. ब. हरगोविन्ददास कांदावाला ने सभापति और व्याख्यानदाता को योग्य शब्दों में धन्यवाद दिया। और मिस्टर लालभाई ने उपस्थित सभ्यों का आभार माना। बाद में सभा विसर्जन हुई।

द्वितीय व्याख्यान में सभ्यों की संख्या प्रथम से भी अधिक थी इस व्याख्यान में पूर्व प्रदर्शित प्रतिष्ठित महानुभावों के सिवाय मि. सारंगपाणि जज, मि. अब्बास तैयब जज तर्कवाचस्पति पंडित बद्रीनाथ शास्त्री, और मि. आंबे गांवकर सज्जन भी उपस्थित थे। पूर्ववत् सबके नियत समय पर उपस्थित होने के बाद सभापति जी ने कहा कि:—

माननीय मुनिवरो और सद्गृहस्थो !

पूर्व महर्षियों का कथन है कि "महाजनो येन गतः स पंथः" इसका तात्पर्य है; जिस मार्ग का अनुसरण महान् पुरुष करते हैं वही प्रशस्त मार्ग है। उसी पर चलना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य

है। इसलिए हरएक शुभ कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण की शिष्ट पद्धति के अनुसार मैं भी इस शुभ कार्य के आरम्भ में मंगलाचरण करता हूं:—

रागद्वेषविजेतारं ज्ञातारं विश्ववस्तुनः।
शक्रपूज्यं गिरामीशं, तीर्थेशं स्मृतिमानये॥

इसका मतलब है कि राग और द्वेष को जीतने वाला विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं को जानने वाला, इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा पूजनीय, और यथार्थ वक्ता जो तीर्थनाथ परमात्मा है, उसको मैं अपनी स्मृति का विषय अर्थात् स्मरण करता हूं। सद्गृहस्थो! शास्त्रों में लिखा है कि:—

"दयानदीमहातीरे, सर्वे धर्म्मास्तृणांकुराः।
तस्या शोषमुपेतायां, कियन्नन्दन्ति ते चिरम्॥"

दयारूप नदी के किनारे पर सर्व धर्म तृण घास की तरह उत्पन्न हुए हैं, यदि वह सूख जावें तो वे (तृण घास आदि) विचारे कहां तक प्रफुल्लित रह सकते हैं? इसका खुलासा मतलब है कि, प्रत्येक धर्म का मूल कारण दया है, जहां पर दयारूपी नदी का प्रभाव वह रहा है वहां पर दानशीलादि जो धर्म के मुख्य अवान्तर भेद हैं वे नदी के तीर पर उत्पन्न होने वाले घास की तरह सदा ही अपनी रमणीय शोभा से विद्यमान रहते हैं। और जिस प्रकार नदी के सूख जाने पर उसके किनारे में उत्पन्न होने वाले तृणांकुरादि सूख जाते हैं, इसी प्रकार जिस मनुष्य के हृदय से दयारूप महा नदी का प्रवाह सूख गया है उसके हृदय में उत्पन्न होने

वाले दानशीलादि धर्म भी नष्ट हो जाते हैं इसलिए मनुष्य से लेकर च्यूंटी पर्यंत समस्त प्राणी वर्ग पर कृपा भाव रखना मनुष्य का सबसे प्रथम कर्त्तव्य है।

देखिए! अमेरिका जैसी भूमि में भी, पक्षियों के रक्षण के लिए "ज्योर्ज हार" नाम के एक दयालु गृहस्थ की तरफ से अर्जी धी जाने पर राज सभा की तरफ से पक्षियों के न मारे जाने का कानून बना दिया गया। जिससे अनाथ पक्षिगण उन्हें निरन्तर धन्यवाद दे रहे हैं। इसी तरह लंडन में पशु हिंसा को रोकने के लिए अहिंसा प्रेमियों की एक महती सभा भी हुई थी, और उसमें बड़े बड़े लार्ड और उमराव आदि सद्गृहस्थ भी पधारे थे! प्रत्येक दर्शक के लिए १०) रुपये फ़ीस रक्खी गई थी। कहने का मतलब यह है कि, अब वे लोग भी इस पवित्र अहिंसा धर्म के रहस्य को समझने और व्यवहार में लाने लगे हैं!

सद्गृहस्थो! इस विषय पर मुझे महाराजा भोज और पंडित श्री धनपाल के सम्बन्ध में वर्णन किया गया एक वृतान्त याद आता है। महाराज भोज एक वक्त शिकार को जाते हुए पंडित धनपाल को साथ ले गये। जंगल में हरिणों और शूकरों की विचित्र क्रीड़ा को देख कर पंडित धनपाल से महाराजा भोज कहते हैं कि—"किं कारणं तु धनपाल! मृगा यदेते, व्योमोत्पतन्ति विलिखन्ति भुवं वराहाः" हे धनपाल! ये मृग आकाश में क्यों कूदते हैं? और शूकर जमीन को क्यों खोद रहे हैं? इसके उत्तर में धनपाल कहते हैं:—

देव ! त्वदस्त्र चकिताः श्रयितुं स्वजाति—
मेके मृगाङ्कमृगमादिवराहमन्ये ॥

हे देव ! आपके अस्त्र से भयभीत हुए २ ये मृग तो चन्द्रमा के मृग की शरण में और शूकर, आदि वाराह की शरण में जाने के लिए इस प्रकार कर रहे हैं। इतना सुन कर राजा ने एक हरिण के ऐसा बाण मारा कि उसके लगते ही विचारा आर्तनाद करता हुआ भूमि पर गिर पड़ा ! करुणामय हृदय धनपाल से यह घटना देख कर न रहा गया। वह राजा से बोला कि :—

"रसातलं यातु तवात्र पौरुषं, कुनीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान्।
निहन्यते यद्बलिनापि दुर्बलो, हहा ! महाकष्टमराजकं जगत् ॥"

राजन् ! तुम्हारा यह पुरुषार्थ रसातल में जाय ! बलवान मनुष्य, दीन निरपराध प्राणियों को मारे, यह बड़ा भारी अन्याय है। हा ! बड़ा भारी कष्ट है। संसार अराजक (राजा विनाका) हो गया अर्थात् कोई न्यायाधीश नहीं रहा ! मतलब कि, राजा की मनुष्य और अनाथ पशु पक्षी सभी प्रजा हैं ! उसको सब पर समान भाव रखना चाहिए। धनपाल पंडित फिर कहते हैं। राजन् !—

"वैरिणोपि हि मुच्यन्ते, प्राणान्ते तृणभक्षणात्।
तृणाहाराः सदैवैते, हन्यन्ते पशवः कथम् ?"

प्राणांत के समय पर यदि महा शत्रु भी मुख में घास लेकर शरण में आवे तो वह भी मुक्त कर दिया जाता है। फिर ये विचारे अनाथ पशु जो सर्वदा घास ही खाते हैं, इन्हें क्यों मारा जाता है ?

सद्‌गृहस्थो ! धनपाल पंडित के वाक्यों ने महाराजा भोज के हृदय पर ऐसा विचित्र असर किया कि, राजा ने उसी वक्त धनुष को हाथ से फैंक दिया और जन्मपर्यंत शिकार नहीं खेलने की भीष्म प्रतिज्ञा की (शाबाश ! और करतलध्वनि) आहा ! सुनना इसी का नाम है ! अन्यथा एक कान से सुना और दूसरे से निकाल दिया । इसमें सुनने और सुनाने वाले दोनों का ही समय व्यर्थ जाता है । इसलिए आप सज्जनों से मेरा साग्रह निवेदन है कि, मेरे उक्त कथन को अवश्य ध्यान में रखते हुए निरपराध प्राणियों की होती हुई व्यर्थ हिंसा को रोकने के लिए आप लोग यथाशक्ति अवश्य प्रयत्न करें ! अब मैं अपने कथन को समाप्त करता हुआ व्याख्यानदाता महाशय से निवेदन करता हूं कि, वे अपना व्याख्यान प्रारम्भ करें । ॐ शांति ३ (करतलध्वनिः) ।

इसके अनन्तर व्याख्याता महात्मा का बड़ा ही प्रभावशाली व्याख्यान हुआ, जो कि, अन्यत्र उल्लिखित है । व्याख्यान हो चुकने के बाद मिष्टर चिमनलाल सामलदास बेहेचरदास ने सभापति और व्याख्यानदाता का उचित शब्दों में आभार माना । तदनन्तर मि० मणिलाल बापुभाई राज्य वैद्य की तर्फ से उपस्थित सभासदों को धन्यवाद दिया गया । पश्चात् सभा विसर्जन हुई ।

इति शुभम् ॥

—::※::—

प्रसिद्धवक्ता जैन मुनि श्रीमद्वल्लभविजयजीका व्याख्यान ।

"धर्मतत्व."

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदश्चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥

सभ्य महानुभावो ! आज मैं अपने पूज्य महात्मा सभापति जी की आज्ञा से आपके समक्ष कुछ बोलने के लिए खड़ा हुआ हूं । परंतु मेरे बोलने में यदि कहीं पर किसी तरह की त्रुटि या स्खलना मालूम हो तो, सज्जनों का जो स्वभाव होता है उसके अनुसार ही आप लोग भी उस पर ध्यान न देते हुए केवल सार मात्र के ग्रहण करने में ही अपनी उदारता दिखलाएंगे ऐसा मुझे विश्वास है । और सदा ऐसी ही उदार बुद्धि रखने के लिए आप से मेरा निवेदन है । सद्गृहस्थो ! वाणी (शब्द) को शास्त्रकारों ने पानी की उपमा दी है, अर्थात् पानी और वाणी ये दोनों आपस में बहुत ही सादृश्य रखते हैं । जैसे एक ही कूए का पानी कुल्या (आड़)

तरा भिन्न २ मार्गों में होता हुआ उद्यान के सर्व वृक्षों को स॰ करता है। जो पानी आम के पेड़ को दिया गया है उसी से ही नीम के वृक्ष को सींचन किया गया है, परंतु आम के वृक्ष में उसकी मधुर रस में परिणति होती है और नीम का पेड़ उसको कटु रस में परिणत कर लेता है। इसी तरह वक्ता के मुख रूप कुए से निकलता हुआ शब्द रूप जल, श्रोताओं के कर्णरूप कुल्याद्वारा उनके अन्तःकरण रूप वृक्षों का सिंचन तो एक जैसा ही करता है, मगर उसके रस की परिणति उनके स्वभाव के अनुसार होती है। जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरि जी एक स्थान में लिखते हैं कि—

"एकतड़ागे पद्वत्पिबति भुजंगमो जलं तथा गौश्च।
परिणमति विषं सर्पे तदेव गवि जायते क्षीरम्" ॥

यद्यपि सांप और गौ दोनों एक ही तालाब में पानी पीते हैं पर सांप में तो वह विष के स्वरूप को धारण करता है, और गौ के शरीर में उसे दुग्ध का रूप प्राप्त होता है। इसी तरह जिस जलके प्रभाव से उद्यान में अनेक प्रकार के सुन्दर पुष्पों की उत्पति होती है, वही तीक्ष्ण कांटों का भी उत्पादक होता है। तात्पर्य कि, जैसे जल में स्वच्छता और मधुरता का स्वाभाविक गुण होने पर भी अन्यान्य पदार्थों के संयोग से उसके रस में परिवर्तन हो जाता है; इसी तरह वाणी चाहे कैसी भी सरस और हितकर हो, तो भी श्रोता उसको अपने स्वभाव के अनुकूल बना लेता है। इसी लिए सब श्रोताओं पर वक्ता की वाणी का एक जैसा असर नहीं होता। वक्ता के विचारों का श्रोताओं पर अच्छा या बुरा असर होना

नके अन्तःकरण के स्वभाव पर निर्भर है। इसमें वाणी का कुछ
ाप नहीं, उसका अच्छे या बुरे रूप में परिवर्तन श्रोता के आशय
र अवलंबित है। इसलिए मेरे शब्दों के विषय में नुक्ताचीनी न
रते हुए उसके मात्र सरल आशय के ग्रहण करने में ही आप
अपनी, उदारता और सहृदयता का परिचय देंगे ऐसी मुझे
आशा है।

सद्गृहस्थो! सुख की अभिलाषा प्राणि मात्र को है, वह
चाहे अमीर हो या गरीब, धनी हो चाहे निर्धन, संसार में छोटे
से छोटे कीट से लेकर बड़े से बड़े जानवर तक एवं साधारण
मनुष्य से लेकर इन्द्र आदि देवताओं तक में ऐसा कोई भी जीव नहीं
जो सुख की इच्छा न करता हो! पर सुख का साधन वही वस्तु
है, जो कि, मेरे आज के व्याख्यान का विषय है। शास्त्रकारों ने
सब तरह के सुख का कारण धर्म को ही बतलाया है। इसलिए
धर्म का पालन करना ही मनुष्य का सबसे पहला कर्त्तव्य (फर्ज़) है।

गृहस्थो! एक बात पर विचार करते हुए मुझे बहुत आश्चर्य
होता है। धार्मिक भाव अथवा धर्म के अनुष्ठान से मनुष्य को
सुख मिलता है; यह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि सभी
सम्प्रदाय पुकार रहे हैं, और जिधर देखो उधर ही धर्म के नाम
की घोषणा सुनाई देती है। इससे मालूम होता है कि, धर्म सबको
प्यारा है। और सभी ने उसे ऐहिक और आमुष्मिक सुख का हेतु
माना है। परन्तु आज जितनी मारामारी लड़ाई बखेड़ा और पर-
स्पर ईर्षा द्वेष चल रहा है वह केवल धर्म के ही नाम से चल रहा

है। जो धर्म सुख और शान्ति के देने वाला माना जा रहा है, के नाम से आपस में भयंकर मारामारी चले। इससे मालूम होता है कि, धर्म के वास्तविक रहस्य से लोग अभी बहुत कम हैं। अन्यथा इतना भेद भाव न हो।

सज्जनो। मेरा माना हुआ धर्म अच्छा और तुम्हारा बुरा इस प्रकार वृथा ही कोलाहल मचाने वालों के सिवा, आत्मा कोई पदार्थ है, और वह अपने शुभ अशुभ कर्म के प्रभाव से देव मनुष्य और तिर्यंच आदि अनेक प्रकार की उच्च नीच गति में भ्रमण करता है, इस सिद्धान्त को भ्रम युक्त और कपोल कल्पित बतलानेवाले भी संसार में बहुत मनुष्य हैं। उन्हें यह सिद्धान्त बहुत ही उपहास्यास्पद मालूम होता है। परन्तु एक निर्धन और दूसरा धनवान, एवं एक का जन्म से ही प्रतिभाशाली होना और दूसरे का अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पर भी आजन्म मूर्ख रहना, अवश्य कोई हेतु रखता है। क्योंकि कार्य का भेद कारण भेद पर ही अवलंबित है। इस लिए आप्त पुरुषों ने उक्त भेद का कारण जो कर्म को बतलाया है, वह बहुत ही ठीक मालूम पड़ता है। शास्त्रकारों का कथन है कि, जीवात्मा के साथ ऐसी किसी वस्तु का संबंध अवश्य है जिससे अपने में एकत्व होने पर भी अंतर स्पष्ट प्रतीत होता है। कल्पना करो, एक ही पिता के दो पुत्र हैं। दोनों ही रूप और लावण्य में समान नजर आते हैं, पर जब उनके आंतरिक विचारों पर दृष्टिपात किया जावेगा तब भेद स्पष्ट ही ज्ञात हो जायगा इसलिए आत्मा के साथ संबंध

रखनेवाला और परस्पर भिन्नता का नियामक वह वस्तु कर्म है, यह निर्विवाद है। आत्मा के साथ कर्मों का संबंध कब हुआ है ? इसका संक्षेप से सरल और स्पष्ट उत्तर यही है कि वह अनादि है। जैसे बीज और वृक्ष का संबंध प्रवाह से अनादि है, इसी तरह जीव और कर्म का भी अनादि संबन्ध है।

सज्जनो ! आत्मा मुक्त और संसारी भेद से दो प्रकार की है। जिस आत्माने अनेक प्रकार के कर्म जन्य बन्धनों को तोड़ कर मोक्ष को प्राप्त कर लिया है वह मुक्त कहलाता है। इस के विपरीत अर्थात् कर्मों से जो बद्ध है वह संसारी अथवा बद्ध आत्मा कहलाता है। इसलिये जिस साधन के द्वारा आत्मा में गुप्त रूप से रहनेवाली ज्ञान दर्शन और चारित्र आदि अनन्त शक्तियों के यथावत् प्रकट होने पर निरतिशय आनन्द रूप मोक्षको यह आत्मा प्राप्त हो, उसका नाम धर्म है। अर्थात् आत्मा को वैभाविक-हीन दशा से निकाल कर उन्नति की पराकाष्ठा में पहुंचाने वाला जो कोई साधन है, उसे शास्त्रकारों ने धर्म के नाम से व्यवहृत किया है। अब आप विचार सकते हैं कि जो धर्म इस प्रकार के सुख का देने वाला हो, फिर उस के नाम से इतनी मारामारी चले ! इस का कोई अवश्य कारण होना चाहिए। जब तक इस कारण का अन्वेषण न किया जाय तब तक एकता की आशा करनी मनोरथ मात्र है !

गृहस्थो ! परस्पर धर्मों की विभिन्नता रहने पर भी किसी प्रस्तुत शुभ कार्य के लिए भेदभाव को त्याग कर सब को एकमत

होकर काम करना चाहिए। यह जमाना अब परस्पर काम करने का है। शब्दों के गोरखधंदे में ही फँस कर कर्तव्य भ्रष्ट होते हुए अपना सर्वस्व खो बैठना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। प्रकृतिका एक २ पदार्थ हमें ऐक्यता के विश्वव्यापक सिद्धान्त शिक्षा दे रहा है। ऐक्यता में कितना बल है ? इसके अनेक प्रत्यक्ष उदाहरण देखने में आते हैं। सूत के बारीक बारीक डोरे अपनी भिन्न २ दशा में रहे हुए जरासा धका लगने पर भी सहज में ही टूट जाते हैं। परन्तु जब वे एक दूसरे के साथ मिल जाते हैं, तब उन्हें एक मदोन्मत्त हस्ती भी तोड़ने के लिए समर्थ नहीं हो सकता !

सज्जनों ! अपनी पांचों अंगुलिएँ एक जैसी नहीं हैं और एक का काम दूसरी नहीं कर सकती। ऐसा होने पर भी यदि कोई प्रश्न करे कि, इन में श्रेष्ठ कौन है ? तो इसका उत्तर देना कठिन है। क्योंकि अपने २ कार्य में सभी श्रेष्ठ हैं। सभी अंगुलियें जब साथ मिलती हैं तभी कार्य होता है। इसी तरह जब हम दूसरे को हलका न समझते हुए परस्पर मिलकर काम करने में प्रवृत्त होंगे तभी सफलता का मुंह देख सकेंगे ! (करतल ध्वनि !) वास्तविक ऐक्यता आत्मस्वरूप की प्राप्ति में है। जिस वक्त यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति मनुष्य को होती है, उसी समय सूर्य के प्रकाश से अन्धकार की तरह भेद-भाव का सदा के लिए नाश हो जाता है। यही सात्विक विचार धर्म से प्राप्त होता है। इसलिए धर्म में सब की अभिरुचि भी न्यून अथवा अधिक देखने में आती है। परन्तु अपनी २

मान्यता के अनुसार उस में बहुत भेद-भाव देखने में आता है इसका कारण यही मालूम पड़ता है कि, वस्तु में जो अपेक्षा रही हुई है, उसकी तर्फ हम दृष्टि नहीं देते। यदि अपेक्षा से पदार्थ का विचार किया जाय तो भेद-भाव नाम मात्र के ही लिए रह जाता है।

गृहस्थो! यदि संसार के तमाम धर्मों को सर्वथा जुदा जुदा ही माना जाय, तब तो उसका कर्तव्य भी जुदा, उस में कथन किया पुण्य पाप भी जुदा, उस से होनेवाली मुक्ति भी जुदी, और अन्त में ईश्वर भी जुदा २ ही मानना पड़ेगा। यद्यपि ऐसा माननेवाले नजर भी आ रहे हैं, मगर इसका कारण यही है कि लोग हठ और आग्रह से अपने कक्के को ही खरा मान रहे हैं। आज संसार में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई यह तीन धर्म अधिक प्रसिद्ध हैं। इन में हिन्दू यदि "अहिंसा परमोधर्मः" का ढंढोरा पीटते हैं तो मुसलमान भाई इस से विपरीत ही अपनी मान्यता बतला रहे हैं। और ईसाई महाशय दोनों से ही जुदा राग आलापन कर रहे हैं। अब प्रश्न होता है कि, हिन्दुओं का ईश्वर भूल रहा है? या मुसलमान भाइयों के खुदा ने गलती खाई? क्योंकि दोनों ही ईश्वर को मानते और उसकी आज्ञा के मुताबिक चलने को धर्म मानते हैं। और दोनों के लिए ईश्वर का भिन्न २ उपदेश है। इसलिए दो ईश्वरों में एक की भूल तो मनजूर करनी ही पड़ेगी। परन्तु विचार से देखा जाय तो किसी के ईश्वर की भूल नहीं, भूल सिर्फ अपनी ही है। अपने ही वस्तु स्थिति पर उचित

विचार नहीं करते । यदि पानी के दृष्टान्त पर विचार करें तो इस बात का खुलासा बहुत ही जल्द हो सकता है । एक ही नल में एक ही जैसा पानी सब को मिलता है, मगर उसी पानी को लेकर एक आदमी तो "हिन्दु का पानी" और दूसरा "मुसलमान का पानी" कह कर पुकार रहा है । इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि, एक ही स्थान से वह पानी लाया गया । और एक जैसा ही उसका रूप स्वाद और वजन है फिर उस में हिन्दु और मुसलमान पना कहां से आया ? इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि पानी में तो फरक नहीं परन्तु जुदे २ वर्तन-घड़ा वगैरह में पड़ने से वह हिन्दु का और मुसलमान का कहाया गया । अर्थात् हिन्दू के वर्तन में पड़ने से हिन्दू का, और मुसलमान के वर्तन में पड़ने से मुसलमान का । इसी तरह आत्मा के सम्बन्ध में समझना चाहिये । शरीर रूप वर्तन में जब तक यह आत्मा विद्यमान है, तभी तक इस के विषय में अनेक प्रकार के भेद भावों की कल्पनाएँ की जाती हैं । शरीर के सम्बन्ध से कोई इसको ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई पुरुष, कोई स्त्री, कोई उच्च और नीच मान रहा है । परन्तु आत्मा में उच्चता और नीचता मात्र कर्म के अनुसार है । कुल गोत्र की उच्च नीचता आत्मा में हमेशा के लिए नहीं है । इस विषय पर महात्मा आनंद घनजी ने बहुत ही ठीक कहा है—

अवधू ऐसो ज्ञान विचारी । यामें कौन पुरुष कौन नारी ॥ अवधू—

बामन के घर नाती धोती, जोगी के घर- चेली ।
कलमा पढ़ कर भईरे तुरकड़ी, आपो आप अकेली ॥

आत्मा की उन्नति और अवनति उस के अच्छे बुरे विचार र अवलंबित है। जैसे गंदा पानी अमुक प्रयोग से साफ किया आ पीने लायक बन जाता है, इसी तरह मलिनात्मा भी सत् र्म के अनुष्ठान से निर्मल हो जाता है। (करतलध्वनि)

महानुभावो! धर्म का रहस्य समझने के लिए किसी तत्वपर तब तक अमुक अपेक्षा, अथवा किसी एक दृष्टि को लेकर विचार न किया जाय, तब तक धर्म के नाम से पड़ी हुई भेदभाव की वेकट ग्रंथिका सुलझना बहुत कठिन है! धर्म की एकता के बिना सामाजिक उन्नति और देशोन्नति का होना मुशकिल है! धर्म सुख का एक मुख्य साधन है यह बात निर्धांत है परन्तु उस को उचित रीति से कार्य क्षेत्र में न लाने से वह दुःख का कारण भी हो सकता और हो रहा है। इसका कारण अपनी २ स्वतंत्र मान्यता है। भिन्न २ प्रकार की मान्यताओं से धर्म भी सर्वथा भिन्न भिन्न एक दूसरे का विरोधी हो रहा है! परस्पर के आघात प्रत्याघातों से विभिन्नता की दावाग्नि उत्तरोत्तर अपना अधिक प्रचंड रूप दिखा रही है। यदि ऐसा ही रहा तो आशा नहीं कि भारत को सुख की शय्या कभी स्वप्न में भी नसीब हो सके।

सद्गृहस्थो! पदार्थ मात्र में अपेक्षा रही हुई है। वस्तुत्व का विचार करने के लिए "अपेक्षावाद" का सिद्धान्त बहुत उपयोगी है। आज जितना मत-भेद दृष्टि गोचर हो रहा है उसका निराकरण, अपेक्षावाद के सिद्धान्त द्वारा बड़ी सुगमता से हो सकता है। अब मैं इस बात को एक उदाहरण से

बतलाता हूं। स्नान करने से शरीर की सफाई होती है, यह श्रंगार की मुख्य सामग्री है, यदि देव पूजा के उद्देश्य से किया जाय तो वह (स्नान) धर्म कार्य में उपयोगी होने से धर्म भी कहा जा सकता है। परन्तु बहुत से आदमी स्नान में ही धर्म मान रहे हैं। यदि यह बात सर्वथा ठीक हो तब तो वेश्या को सबसे अधिक धर्मात्मा कहना चाहिए ! क्योंकि वह तो दिन भर में चार पांच दफा स्नान करती है। इस लिए मात्र सौन्दर्य वृद्धि के लिए जो स्नान है वह धर्म नहीं किन्तु देव पूजा के निमित्त किया गया स्नान देव पूजा जैसे धार्मिक कृत्य में उपयोगी होने से धर्म में परिगणित किया जा सकता है। तात्पर्य कि किसी दृष्टि से स्नानादि कर्म, धर्म के नाम से निर्दिष्ट किये जा सकते हैं, सर्वथा उनको धर्म में समाविष्ट करना सत्य का निस्संदेह गला घूंटना है। इसी तरह हर एक कर्त्तव्य विषय का अपेक्षावाद की पद्धति द्वारा विचार करने से ज्ञात हो सकेगा कि, उसमें रहस्य अवश्य समाया हुआ है।

सभ्य श्रोतृ गण ! धर्म का लक्षण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—"दुर्गतौ प्रपतत् प्राणिधारणाद्धर्म उच्यते" दुर्गति में पड़ते हुए जीव को जो धारण करे अर्थात् उसको बचाकर सद्गति में स्थापन करे उसे धर्म कहते हैं। इसलिए परम सुख देने वाले धर्म रूप पदार्थ में अपनी २ मान्यता से विरोध का उद्भावन करना उचित नहीं। वास्तविक धर्म हमेशा एक ही तरह का होता है। उसमें भिन्नता का लेश, नाम मात्र के ही लिए होता है। जब तक विचार समूह एकत्रित होकर कर्त्तव्य परायण नहीं होता तब तक

उद्देश्य की सिद्धि आशा-मात्र ही है। मुझे दिलगिरी से कहना पड़ता है कि, 'स्वतंत्र' निरपेक्ष मान्यता से प्रतिदिन विरोध बढ़ रहा है। कोई ईश्वर को कर्ता मानता है और कोई अकर्ता कहता है। और दोनों ही एक दूसरे को अधर्मी और अपने आपको धर्मात्मा समझ रहे हैं इतना ही नहीं किन्तु कभी २ दोनों का उक्त विषय के निमित्त से घोर युद्ध भी हो जाता है। नतीजा यह निकलता है कि, आपस के मेल का नाश होकर एक दूसरे के कार्य में साहाय्य देने के बदले उसका घोर विरोध करने लग जाते हैं! इसका फल अंत में दोनों के ही लिए हानिकारक निपटता है।

सज्जनो! विचार वैचित्र्य रहने पर भी हमें मिलकर कार्य करना चाहिए। परस्पर के मेल से परस्पर अवलोकन का लाभ होता है। परस्पर अवलोकन (एक दूसरे के सामने देखने) से मूल्य बढ़ता है। बस मूल्य बढ़ना ही उन्नति है। आप लोग रोज देखते हैं कि, ६३ का अंक तब बनता है जब ६ और ३ इन दोनों का मुख एक दूसरे के सामने होता है। परन्तु यही जब अपने मुख को एक दूसरे से फिरा लेते हैं तब ये ६३ के ३६ बन जाते हैं (करतल ध्वनिः) इसी तरह जिस समय भारतीय धार्मिक साम्प्रदायिक मनुष्यों में परस्पर मेल था और एक दूसरे को प्रेम भरी दृष्टि से देखता था उस वक्त भारतवर्ष का गौरव ६३ के अंक के समान अधिक था, परन्तु जब से इसमें विमुखता का प्रवेश हुआ तब से यह ६३ की कीमत के बदले ३६ की कीमत का रह गया।

ईश्वर को कर्ता और अकर्ता मानकर व्यर्थ कोलाहल मचाना

के सिवा, यदि सत्य वस्तु क्या है ? इसकी खोज की जाय तो, लाभ बहुत हो। कितनेक लोगों का कथन है कि इस संसार को ईश्वर ने ही बनाया है। वह जैसा चाहे वैसा करता है। यह कथन यदि ठीक ही मान लिया जावे तब तो किसी को राजा और किसी को रंक, किसी को अमीर और किसी को गरीब, एवं किसी को सुखी और किसी को दुःखी भी ईश्वर ने ही बनाया होगा। मगर सच्चिदानंद स्वरूप परमात्मा को इस प्रकार के नाटक में क्या लाभ होता होगा ? यह भी एक विचारणीय है। क्योंकि वह कृतकृत्य है। रागद्वेष से रहित है। यदि उक्त भेद का कारण कर्मों को स्वीकार किया जावे तब तो कर्म करने वाला जीव है, उसी के किये हुए कर्म का फल उसे मिलता है। ईश्वर के कर्तृत्व का उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। कहने का मतलब यह है कि इस प्रकार के विरोधोद्भावन से परस्पर में द्वेष बढ़ाते हुए लोग धर्म को ही अधर्म की पोशाक पहरा देते हैं। यदि विचार किया जावे तब 'कर्ता' इस शब्द के साथ कुछ भी विरोध नहीं। विरोध केवल अपनी २ स्वतन्त्र मान्यता में है। कर्ता दो प्रकार का होता है। एक 'प्रेरक' और दूसरा 'प्रकाशक'। यदि ईश्वर को प्रेरक माना जाय तब तो संसार के सब कार्य ईश्वर की ही प्रेरणा से होंगे। यदि ऐसा है तब तो एक मनुष्य को मार डालने वाला दूसरा मनुष्य अपराधी नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि वह मारने में स्वतंत्र नहीं। उसको ईश्वर ने जैसी प्रेरणा की, वैसे ही उसने किया। आप लोग एक निरपराध मनुष्य को अन्य किसी पुरुष द्वारा मारे जाने पर नाराज होते हो, मगर ईश्वर तो इसमें बहुत खुश है।

यदि प्रकाशक रूप से ईश्वर को कर्ता माना जाय तब तो किसी बात में किसी को भी विरोध नहीं ! जैसे सूर्य के प्रकाश से यावन् कार्य होते हैं, परन्तु हमारे कर्तव्य में उसका किसी प्रकार का भी दखल नहीं। हम अपने कार्य के करने, छोड़ने में स्वतंत्र हैं। इसी तरह अपने किये हुए कार्यों के उत्तर दाता हम स्वयं हैं। ईश्वर की प्रेरणा का इसमें अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं। वह मात्र द्रष्टा रूप से सर्वदा विद्यमान है। इस लिए गंभीर विचार करने से इस प्रकार के शुष्क विवादों को दूर करके सबको आपस में मेल बढ़ाना चाहिए। धर्म का रहस्य सबके लिए एक ही है। वह आत्मा का स्वाभाविक गुण है। उसी के समझने से आत्मा को उन्नत दशा की प्राप्ति होती है ! (करतल ध्वनिः)

गृहस्थो ! धर्म के निमित्त से लोगों में अधिक मत भेद होने का एक और भी कारण है। लोग स्वधर्म और पर धर्म के रहस्य को न समझ कर किसी वक्त बड़े २ अनर्थ भी कर बैठते हैं वे लोग यही समझते हैं कि हमारे बाप दादा के वक्त से जो कुछ रस्मोरिवाज चला आता है वही धर्म है। चाहे वह कैसा ही क्यों न हो। परन्तु स्वधर्म और परधर्म शब्द के वास्तविक अर्थ पर विचार करें तो मालूम हो जायगा कि इस में कितना रहस्य समाया हुआ है। स्व नाम आत्मा का है, वस्तु के स्वभाव का नाम धर्म है, अतः आत्मा का जो स्वभाव वही स्वधर्म है। इसीलिए भगवद्गीता के अन्दर लिखा है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"

स—(अपने) धर्म में यदि मृत्यु भी हो जाय तो भी अच्छी है मगर पर धर्म (दूसरे का धर्म) भय के देने वाला है।

इस श्लोक का बहुत से आदमी यही अर्थ समझ रहे हैं कि, जो अपने बाप दादा करते चले आए हैं वही अपना धर्म है। उसी के अनुष्ठान से अपना कल्याण होने वाला है, दूसरे का जो धर्म है वह चाहे कैसा ही अच्छा हो मगर उस से कल्याण के बदले भय ही होगा। यदि इस श्लोक का यही अर्थ माना जाय तब तो परमार्थ के बदले अधिक अनर्थ की ही सम्भावना है। यदि बाप दादा जिस को करते चले आए हैं उसी को धर्म कहा जाय तब तो अधर्म का नाम ही दुनियां से उठ जाय! शास्त्रोपदेश की कुछ भी जरूरत न रहे!

सज्जनो! यदि बाप दादा जिसे करते थे वही धर्म हो तब तो, क्षमा कीजिए, आज इस जगह पर उपस्थित हुए २ सभी को अधर्मी की पदवी से विभूषित होना पड़ेगा। (करतलध्वनि)

आज जिस तरह की सभा एकत्रित हो रही है, सभ्यगण जिन २ पोशाकों में सुसज्जित हुए जिस प्रकार बैठे हुए हैं, क्या आज से तीन चार पीढ़ी प्रथम अपने बाप दादा इस ढंग से और इस ड्रेस से कभी बैठे या बैठते थे? यदि नहीं तो क्या हमारे इस आचार से धर्म कहीं भाग गया? अथवा हम अधर्मी हो गए? यदि बाप लूला हो, लंगड़ा हो, निर्धन हो, खूनी हो, तो क्या बेटे को भी वैसे ही होना चाहिए? बाप यदि अंधा हो कर युवावस्था में ही गुजर जाय तो क्या पुत्र को भी आंखों से अंधा होकर

युवावस्था में ही प्राण दे देने चाहिए ? नहीं नहीं ऐसे तो न कोई करता है और नाहीं किसी को करना चाहिये। इस लिए स्वधर्म क्या और परधर्म क्या, इसका प्रथम तात्पर्य समझना चाहिए। स्वधर्म अर्थात् आत्मा का धर्म। परधर्म नाम मायिक पदार्थ का जो धर्म नाम स्वभाव। इसका तात्पर्य यह है कि, आत्मा का जो धर्म है वह ग्रहण करने योग्य है, और मायिक-पौद्गलिक धर्म त्यागने योग्य है। आत्मिक धर्म की प्राप्ति निवृत्ति मार्ग के अनुसरण से होती है, निवृत्ति मार्ग का अनुष्ठान मायिक धर्म के त्याग बिना नहीं हो सकता। इस लिए आत्म स्वभाव में रमण करना और असार मायिक पदार्थों का त्याग करना ही स्वधर्म के अनुष्ठान और परधर्म के त्याग से बोधित होता है। आशा नहीं क इस प्रकार के उपदेश में किसी को विवाद हो।

सभ्य पुरुषो! शास्त्रकारों ने ज्ञान दर्शन और चारित्र इस रत्नत्रयी को मोक्ष का मार्ग बतलाया है। अर्थात् श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा यह आत्मा मायिक-पौद्गलिक यावत् उपाधियों से रहित होकर सत् चित् आनंद परमात्म रूप को प्राप्त कर लेता है। फिर उसके लिए कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, इसी का नाम वास्तविक सुख है। इसी के लिए प्राणिमात्र प्रयत्न शील हो रहे हैं। यही अलौकिक सुख, धर्म के सतत अनुष्ठान से प्राप्त होता है। परंतु इतना ख्याल रखने की अवश्य जरूरत है कि जब तक देव और गुरु की पहचान न हो तब तक धर्म के रहस्य की प्राप्ति होनी मुशकिल है। उस पर भी इतना ध्यान जरूर रखना

चाहिए कि केवल नाम मात्र से सिद्धि नहीं हो सकती, केवल राम नाम उच्चारण मात्र से कुछ नहीं बनता, किन्तु उनके आचरणों को अपने हृदय में अंकित करके अपने आचरण मे निर्मलता लाते हुए यदि नाम का स्मरण पूजन करने में आवे तब ही उद्धार हो सकेगा। हर एक मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि संसार में जो सामान्य जीव था वह उक्त ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी के अनुष्ठान से समस्त कर्मों के क्षय द्वारा उन्नति को प्राप्त होकर परमात्म दशा को प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार यदि मैं भी उसी मार्ग पर चलूं तो मैं भी किसी समय वैसा ही हो सकता हूं! अर्थात् जिस निरतिशय आनंद को वे आत्मा प्राप्त हुए हैं वह वस्तु सत् कर्म के अनुष्ठान द्वारा मेरे लिए भी अवश्य साध्य है।

सद्गृहस्थो! मनुष्य जन्म चिन्तामणि के समान है। इसे प्राप्त करके इस से लाभ उठाना ही विशेष बुद्धिमत्ता है। अब चाहे तो इस से लाभ उठा लो, और चाहे इसे वृथा खो दो, यह आप का अखत्यार है। बस इतना ही कह कर मैं अपने व्याख्यान को समाप्त करता हूं। क्योंकि अब सूर्यास्त होने का समय बहुत ही निकट आ गया है, इसलिए धर्म के नियम को मान देता हुआ व्याख्यान के सार पर विचार करने के लिए आप से अनुरोध करता हूं और अपने कथन को विराम देता हूं।

॥ ॐ शांतिः ३ ॥

"प्रसिद्धवक्ता जैनमुनि श्रीमद्वल्लभविजयजीका व्याख्यान"

(२)

सार्वजनिक धर्म

मो मा रा म म मा दं द्वे
ह या ग द् ल नं भ पः ॥
एते यस्य न विद्यन्ते,
तं देवं प्रणमाम्यहम् ॥
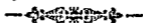
प्रिय सज्जन महाशय ! मैंने गत रविवार के व्याख्यान में देव और गुरु का कुछ नाम मात्र से वर्णन किया था।

आज के व्याख्यान में उक्त विषय का कुछ सविस्तर वर्णन आप को सुनाऊंगा। आप मेरे गत व्याख्यान के श्रवण से इस विचार पर आ गये होंगे कि, वस्तु स्थिति में धर्म के विषय में सब का समान स्वत्व है। और धर्म सब के लिए एक जैसा है एवं प्राणि मात्र के लिए अनुष्ठेय है। जब धर्म

सब के वास्ते एक ही है, तब देव भी एक ही होना चाहिए। और उस का उपदेश भी परस्पर अविरुद्ध और सब के लिए एक जैसा ही होना आवश्यक है। यदि देव भिन्न २ माने जाँय तो उनका उपदेश भी भिन्न २ ही मानना होगा। उपदेश की भिन्नता से उपदिष्ट मार्ग की भिन्नता स्पष्ट ही है। तब तो आत्म शुद्धि की समान उपलब्धि सब के लिए अशक्य है। इसलिए प्रथम देव तत्व पर विचार करने की ज़रूरत है।

सद्गृहस्थो! आज कल दुनिया में देव के अनेक नाम सुनने में आते हैं। कोई किसी नाम का उच्चारण करना मानता है और कोई किसी का। परन्तु ये नाम यदि गुण निष्पन्न हैं तब तो कुछ भी विवाद नहीं। क्योंकि वस्तु में रहे हुए भिन्न २ गुणों के अनुरूप, अनेक नामों की कल्पनाएँ हो सकती हैं। मगर इतना स्मरण अवश्य रखने की ज़रूरत है कि नाम के उच्चारण में जिस गुण का बोध है वह गुण नाम वाले में विद्यमान है या कि नहीं? मतलब कि गुणनिष्पन्न देव का ही हमें स्मरण करना आवश्यक है। देव कैसा होना चाहिए? इस का वर्णन व्याख्यारम्भ के मंगल श्लोक में आ चुका है। उक्त श्लोक का तात्पर्य है कि, मोह-माया-राग-मद-मल-मान-दंभ और द्वेष जिसमें नहीं ऐसे देव को मैं प्रणाम करता हूँ। महात्मा हरिभद्र एक स्थान में लिखते हैं "भवबीजांकुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य। ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै" अर्थात् संसार में जन्म और मरण को उत्पन्न करने वाले राग

और द्वेषादि जिसके विनाश हो चुके हैं, वह चाहे ब्रह्मा के नाम से प्रसिद्ध हो, विष्णु के नाम से प्रख्यात हो, अथवा हर के नाम से कहा जाता हो, चाहे जिनके नाम से प्रसिद्ध हो, उसे मैं नमस्कार करता हूँ। तात्पर्य कि, नाम मात्र में किसी तरह का आग्रह नहीं, मतलब केवल नाम वाले के प्रशस्त गुणों से है।

सज्जनो ! सब जगह में धर्म शब्द की घोषणा सुनाई देती है। भिन्न २ मत वाले एक दूसरे से अपने धर्म को अधिक प्रिय और पवित्र समझते हैं, तो क्या वे सभी के सभी झूठे हैं ? नहीं। प्रत्येक मत में कुछ न कुछ सत्यता का अंश अवश्य है। परन्तु यह सत्यता कहां से आई ? इस सत्यता के स्रोत का मूल कारण क्या है ? और वस्तु स्थिति क्या है ? इस का परामर्श करना हम सब का काम है। परमात्मा किसी को स्वयं आ कर कुछ नहीं समझाता। इसलिए हेयोपादेयका विचार करना यह अपना ही फर्तव्य है। इस विषय में मैं अपने अनुभव का एक दृष्टान्त सुनाता हूं।

अमृतसर (पंजाब) के पास मानावाला नाम का एक ग्राम है। दैवयोग से एक वक्त स्वर्गवासी प्रसिद्ध महात्मा जैनाचार्य श्रीमद्विजयानन्द सूरि उर्फ आत्माराम जी महाराज के साथ वहां मेरा जाना हुआ। वहां पर हीरासिंह नाम का एक नम्बरदार है। भिक्षा के समय ग्राम में मेरा जाना हुआ। ग्राम में से साधु के योग्य शुद्ध आहार मात्र उक्त नम्बरदार के घर से तक (छाछ) मिली, और लोगों से ज्ञात हुआ कि ग्राम में यह नम्बरदार ही

कुछ सम्पन्न पुरुष है। बहुत से लोग उसके घर में थोड़ी २ छाछ ले जाते हैं। उसमें और पानी मिला कर अपना अपना निर्वाह चलाते हैं। उस एक घर की छाछ से कितने ही घर छाछ वाले बन रहे हैं। स्थान पर आ कर उक्त स्वर्गवासी गुरु महाराज मे नम्बरदार के घर का सब हाल कह सुनाया। उस वक्त आपने कहा कि, जैसे इस ग्राम में छाछ का मूल स्थान उक्त नम्बरदार का घर है, और अन्यान्य लोग उसके घर से छाछ ला कर उसमें अपनी तरफ से थोड़ा २ पानी मिला कर छाछ वाले बन रहे हैं। इसी तरह धर्म का मूल स्थान ईश्वर है। और उसका उपदेश रूप धर्म भी एक है। परन्तु भिन्न २ मार्गानुयायी लोग उसे ग्रहण करके अपनी कल्पना के अनुरूप बना कर धर्मज्ञ बन रहे हैं। जैसे छाछ में पानी मिलाने पर भी मूल छाछ का अंश उसमें बना रहता है, ऐसे ही जुदे २ मतों में भी न्यून अथवा अधिक रूप में वास्तविक धर्मांश अवश्य है ! वही अंश मनुष्य को अपनी तरफ आकर्षित कर रहा है। इसलिए जल मिश्रित तक्र की तरह कल्पना मिश्रित धर्मांश भी धर्मरूप से भासमान हो रहा है। अतः निखिल धर्मों में रहे हुए सत्यांश का ग्रहण करना ही विवेकी पुरुषों का काम है। अहा ! महात्माओं के सारगर्भित कैसे निष्पक्ष विचार होते हैं।

सज्जनो ! परमात्मा सब के लिए समान है। हमारी स्वतन्त्र कल्पनाएं उसकी अप्रतिहत ज्ञान सीमा को अणुमात्र भी विचलित नहीं कर सकती ! परन्तु जब तक परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप को हम अच्छी तरह समझ न सकें तब तक ईश्वर विषयक

निर्भ्रान्त मानसिक विचारों की स्थिरता दुष्प्राप्य है। इसलिए देव-परमात्मा के स्वरूप का कुछ परामर्श करना प्रथम आवश्यक है। प्रत्येक धर्म वाला ईश्वर को क्षमावान, दयालु, और निर्दोष परम पवित्र मानता है। यथार्थ में परमात्मा निर्दोष, निर्विकार और वीतराग ही है। जो क्रोधी, रागी एवं अन्य किसी विकार से युक्त है, उसे कोई भी बुद्धिमान ईश्वर नहीं मान सकता। इसलिये जिसमें किसी प्रकार की भी सांसारिक उपाधि न हो, वही ईश्वर हो सकता है। यह मान्यता जैनों की ही नहीं, किन्तु अन्य धर्मानुयायी भी इसे मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं।

सभ्य श्रोतृवृन्दो! जब मैं पंजाब में विचरता था तब बहुत से लोगों के मुँह से सुना करता था कि "पढ़ी गीता तो घर काहे को कीता" अर्थात् यदि गीताका अध्ययन किया, तो फिर घर करने की क्या आवश्यकता? इसका खुलासा मतलब यह है कि, गीता में कहीं कहीं इतना पारमार्थिक रहस्य भरा हुआ है कि यदि कोई उसका मनन द्वारा निदिध्यासन करे तो उसका हृदय-पट अवश्य ही वैराग्य के प्रशस्त रंग से रंगे बिना नहीं रह सकता। अन्यथा यूं तो पोपट (तोता) के राम राम रटने की तरह सभी गीतापाठी हैं। उसी गीता में लिखा है कि—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ अ. ४ श्लो. १०॥

जिनका राग, भय और क्रोध नष्ट होगया है, और मत्परायण होकर जो मेरी उपासना करते हैं ऐसे बहुत से मनुष्य, ज्ञान और

तप के द्वारा पवित्र हो कर मेरे शरीर को प्राप्त हुए हैं। अब विचारना चाहिये कि, ईश्वरीय रूप प्राप्त करनेके लिए जब राग-द्वेष से मुक्त होने की आवश्यकता है तब तो सिद्ध हुआ कि, ईश्वर परमात्मा राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त ही है। इसीलिये परमात्मा को वीतराग कहा जाता है। (हर्षनाद)

सज्जनो! शैव, वैष्णव, मुसलमान, और क्रिस्ती आदि धार्मिक सज्जन अपने २ धर्म-प्रवर्तक देव ईश्वर को यदि निर्दोष और निष्कलंक मानते हैं, तथा यह मान्यता वस्तुतः ठीक है, तब तो कहना होगा कि, अपने मत में मात्र नाम का ही फर्क है, ना कि नाम वाले का। एवं यह भी स्वीकार करना होगा कि, धर्म के नाम से ही हम में भिन्नता है, धर्म भिन्न २ नहीं। तथा ईश्वर वस्तु भी एक ही है, उसमें भेद केवल निज की कल्पना है। इसलिए वस्तु स्थिति की शोध की जाय तो झगड़ा बहुत जल्दी निपट जाता है।

गृहस्थो! मोक्षरूप अनंत सुख की प्राप्ति के लिये बाह्य वेष ही नितान्त आवश्यक नहीं, लाल पीला अथवा अन्य किसी प्रकार का कपड़ा पहरने मात्र से ही कल्याण हो जायगा ऐसी मान्यता केवल बालपन है। तात्विक सुख-प्राप्ति का साधन मात्र अंतरंग शुद्धि है। अंतरंग शुद्धि से ही समभावपन की प्राप्ति होती है। समभाव ही मोक्ष प्राप्ति का निकट साधन है। बाह्य वेष तो केवल ऊपर के सद्व्यवहार की रक्षा के लिए है। इसलिए बाह्य वेष में भिन्नता रहने पर भी यदि आंतरिक वेष

समभावपना जीव में आ जावे तो निस्सन्देह वह मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यही महर्षियों का कथन है—

"सेयंबरो व आसंबरो व बुद्धो य अहव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो ॥"

बस इसीसे उन्नति की अभिलाषा सफल हो सकती है। सुज्ञ श्रोतृगणो! जैन धर्म खास किसी व्यक्ति अथवा जाति का धर्म नहीं, किन्तु सार्वजनिक है। व्यक्तिमात्र का अनुष्ठेय है। हर एक मनुष्य इसे बड़ी खुशी से अपने व्यवहार में ला सकता है। 'जैन' नाम है, जिन परमात्मा के उपदेश किये हुए धर्म के अनुष्ठान करने वाले का। 'जिन' शब्द 'जि' धातु से बना है। जिसने राग-द्वेषादि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली हो, वह "जिन" कहाता है। जिन किसी खास आदमी का नाम नहीं, किन्तु जिसे उक्त अधिकार प्राप्त हो चुका हो, ऐसा हरएक महापुरुष "जिन" के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। इसलिए हम, राग-द्वेष-रहित उक्त जिनको गुणनिष्पन्न शंकर, ब्रह्मा, विष्णु, हर, महादेव आदि जिस नाम से शब्द व्यवहार में लाना चाहें ला सकते हैं। अतः इस प्रकार के व्यक्ति का उपदेश (धर्म) यावत् मनुष्यों के लिए समान है। इसीलिए उक्त धर्म को सार्वजनिक कहने में कोई त्रुटि मालूम नहीं देती। (करतल-ध्वनि)

सभ्य पुरुषो! संसार में आज तक जितने धर्म-प्रवर्तक मर्यादाशील अवतारी पुरुष हुए हैं, उनमें से आज एक भी विद्यमान नहीं है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से तो कुछ निर्णय हो नहीं सकता।

इसलिये देव के सत्य स्वरूप के निर्णय के लिए अंत-मात्र दो वस्तु हमारे पास हैं। जिनमें एक तो उनका जीवनचरित्र, और दूसरी उनकी प्रतिमा—मूर्त्ति। उनका जीवन किस प्रकार का था? उनमें निर्दोपता अथवा सदोपता कहां तक थी? इत्यादि बातें जीवन-चरित्रों से अच्छी तरह समझ में आ सकती हैं। तथा मूर्त्ति के देखने से मूर्त्तिवाले की अवस्था का चित्र भी बखूबी समझ में आ सकता है। जिसकी प्रतिमा-मूर्त्ति का दिखाव शान्त है तो समझ लो कि वह मूर्त्तिवाला भी शान्त है। यदि मूर्त्ति की आकृति क्रोध अथवा काममयी देखने में आती है, तो मूर्त्तिवाला भी क्रोध और काम से मुक्त हुआ नहीं समझा जा सकता। इसलिए बुद्धिमान को समझ लेना चाहिए कि, उक्त मूर्त्ति वाला बनावटी देव है। उसमें देव के सचे लक्षण नहीं हैं। मुझे यहां पर प्रसंग-वश कुछ मूर्त्तिपूजा के सम्बन्ध में कहना पड़ता है। क्योंकि, कितनेक मनुष्य अकारण ही मूर्त्तिपूजा के घोर विरोधी होरहे हैं। इस विरोध का कारण क्या है? यह मेरी समझ से बाहिर है। और मेरा उन लोगों से यह भी आग्रह नहीं कि, उक्त सिद्धान्त को वे मानने ही लग जावें, किन्तु इस पर कुछ विचार तो अवश्य करें, इतना ही निवेदन है। मेरे विचार में जो लोग मूर्त्तिपूजा के सिद्धान्त के विरोधी हैं, वे बड़े भारी भूल में हैं। मूर्त्ति के मानने-वाले केवल मूर्त्ति को नहीं मानते, किन्तु मूर्त्तिवाले परमात्मा को मानते हैं। (करतल-ध्वनि) प्रत्येक धर्म वाले किसी न किसी प्रकार से मूर्त्ति को अवश्य मानते हैं। कितनेक लोग वेदों की

पुस्तकों का सन्मान करते हैं। कितनेक कुरान की इज्जत करते हैं। और कितनेक बाईवल को सिर पर उठाते और चूमते हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि, स्वयं तो जड़ पुस्तकों का सत्कार करते हैं और देवमूर्त्ति को जड़ बतला कर उसकी पूजा का विरोध करते हैं। बहुधा लोगों का कथन है कि, जड़मूर्त्ति हमारा न कुछ बिगाड़ सकती है, न कुछ सुधार सकती है। इसलिए उसका पूजन करना एक समय को व्यर्थ खोना है! मगर उन लोगों को इतना स्मरण रखना चाहिए कि, मूर्त्ति ईश्वर भक्ति में आलम्बन रूप है। मानसिक स्थिरता का एक अनूठा साधन है। सज्जनो! एकान्त स्थान में रक्खी हुई एक सुन्दर स्त्री की मूर्त्ति को देखकर यदि एक कामी पुरुष के हृदय में देखते ही कामोत्पत्ति हो जाती है। तो क्या भगवान् वीतराग की शान्त मुद्रा को देख कर एक भक्त का हृदय प्रभु भक्ति के शान्त सुधारस में गोते खाने नहीं लगेगा? (करतलध्वनिः) इसलिए उक्त सिद्धान्त का बहुत ही विचारपूर्वक परामर्श करना चाहिए। यद्यपि इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना अवशिष्ट है, परन्तु प्रसंगान्तर होने से इसको यहीं पर छोड़ता हुआ अपने प्रस्तुत विषय पर आता हूं!

सभ्य वृन्दो! देव कैसा होना चाहिए? उसकी परीक्षा किस तरह करनी चाहिए? इस बात को मैंने आप से बतला दिया है। आप लोग उस पर विचार करेंगे, ऐसी मुझे आशा है। अब देव के साथ गुरु के स्वरूप का ज्ञान करना भी आवश्यक है। गुरु कैसा होना चाहिए, उसमें किन बातों का होना लाजिमी है?

इस पर विचार करना बहुत जरूरी है। क्योंकि, धर्म और अधर्म का यथार्थ ज्ञान होना गुरुओं पर अवलम्बित है। धर्मरूप नौका के गुरु कर्णधार हैं। संसार में आज जितने साधु दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे गुरु पद के योग्य तभी हो सकते हैं, जब उनमें साधुता के गुण विद्यमान हों। अन्यथा चातुर्मास में उत्पन्न होने वाले इन्द्रगोप नाम के एक क्षुद्र कीट की तरह नाम मात्र धारण करने से कुछ सिद्धि नहीं। जैसे वह कीट इन्द्रगोप इस नाम मात्र से इन्द्र की रक्षा नहीं कर सकता इसी प्रकार साधु इस नाम मात्र से कभी भी आत्मसाधन नहीं हो सकता। इसलिए सच्ची साधुता प्राप्त करने की आवश्यकता है। साधु का आचार बहुत ही शुद्ध होना चाहिए। साधु श्रेष्ठ काम करने वाले को संस्कृत भाषा में साधुकार कहते हैं। उसी का प्राकृत भाषा में साहूकार बनता है। जैसे सच्ची दुकान चलाने के लिए प्रामाणिक सद्व्यवहारी साहूकार होने की जरूरत है, ऐसे ही धार्मिक दुकान चलाने के लिए भी साधु रूप साहूकार की आवश्यकता है। (करतलध्वनि) जो मनुष्य साधु के अनुरूप आचरण रखता है उसे आप संन्यासी कहो, उदासी कहो, वैरागी कहो, मतलब कि-किसी नाम से वह परिचय में आवे, परन्तु वह आत्मा और संसार के उद्धार में प्रयत्नशील होना चाहिए। एक भाषा के कवि ने साधु के स्वरूप का चित्र बहुत ही अच्छा खींचा है। साधु के लक्षण बतलाता हुआ कवि कहता है कि—

> 'साधु सो जो साधे काया, कौड़ी एक न रखे माया।
> लेना एक न देने दो, ऐसा नाम साधु को हो॥"

अर्थात्—साधु उसे कहते हैं जो आत्मसाधन में प्रवृत्त हो। आत्मसाधन कब होसके ? जब कौड़ी मात्र भी अपने पास माया न रखे। माया दो प्रकार की। एक द्रव्य माया, दूसरी भाव माया। द्रव्य माया तो धन लक्ष्मी वगैरह प्रसिद्ध ही है। छल कपट वगैरह भाव माया कही जाती है। जो मनुष्य दो प्रकार की मायामें से किसीसे भी संबंध नहीं रखता वही आत्मसाधन कर सकता है। जब सब तरह की माया से रहित हो गया तो फिर न किसी का लेना रहा और न किसीका देना रहा। मात्र एक परमात्मा का नाम ही लेना उसके लिये अवशिष्ट रहा एवं न किसी को वर देना और न शाप। क्योंकि उक्त दोनों कामों से राग-द्वेषकी वृद्धि होती है। राग-द्वेषकी वृद्धि ही साधुताकी विरोधिनी है।

सज्जनो! संसारमें सारे झगड़ोंका मूल ज़र, जोरू और ज़मीन ये तीन वस्तुएँ हैं। इन्हीं के निमित्त से अनेक अनर्थ हो रहे हैं। आज आप लोग जिस स्थानमें पधारे हैं यह भी इन्ही तीनोंके झगड़ोंको मिटाने के लिए नियत किया गया है। (करतलध्वनि:) इसलिए इन तीनों उपाधियों से साधुको सदा मुक्त रहना चाहिए। इनमें भी सबसे अधिक अनर्थका मूल जर—धन है। बाकी की दो उपाधिएँ तो इसीका रूपान्तर हैं। धनका उचित रीतिसे संपादन रखना और व्यय करना गृहस्थके लिए तो शोभास्पद है और साधुके लिए कलंक रूप है क्योंकि गृहस्थ और साधुका धर्म भिन्न भिन्न है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो कहना होगा कि, यदि गृहस्थके पास कौड़ी न हो तो गृहस्थ कौड़ीका! और यदि साधुके

पास कौड़ी हो तो साधु कौड़ीका ! (करतलध्वनिः) मतलब कि, गृहस्थ द्रव्यसे शोभा देता है, और साधु त्यागसे । अतः साधुको द्रव्यादि के संसर्गसे सदा मुक्त रहने की आवश्यकता है।

साधुके लिए शास्त्रोंमें मुख्यतया पांच नियमों के पालन करने की आज्ञा दी है। उनमें प्रथम नियम अहिंसा है।

प्रत्येक सूक्ष्मसे स्थूल पर्यन्त प्राणि मात्रकी रक्षा करना अहिंसा कही जाती है । इस नियमका पालन करना साधुको परम आवश्यक है । जीव-रक्षामें तत्पर रहना गृहस्थ का भी धर्म है। परन्तु गृहस्थ अहिंसा व्रत पालन नहीं कर सकता, तब भी निर्दोष प्राणियों का रक्षण तो गृहस्थको अवश्य करना चाहिए । इसीमें उसका भला है । साधुको तो प्रत्येक सावद्य-हिंसा पाप-जनित व्यापार का परित्याग करना चाहिए । इसीमें साधुता चरितार्थ हो सकती है।

सज्जनो ! अहिंसा धर्म (किसी प्राणिको दुःख न देने) का प्रत्येक मतमें उपदेश है । इसकी श्रेष्ठताको भी प्रत्येक सम्प्रदाय स्वीकार करता है । किसी धर्ममें भी हिंसा करने की छूट नहीं दी गई । कितनेक लोग कहते हैं, अहिंसा धर्मके पालनमें जैन धर्म सबमें अग्रसर है, सो यह बात ठीक है । परन्तु मैं चाहता हूँ कि, एक एक मनुष्यका हृदय ऐसा दयामय होजाय कि उसके प्रभावसे संसारभरमें अहिंसामय धर्मका ही नाद सुनाई देने लगे ! (हर्षध्वनि) विचारपूर्वक गवेषणा करनेसे मालूम होता है कि, हिन्दु-मुसलमान-पारसी-ईसाई-यहूदी आदि सभी धर्मों में अहिंसा व्रतके पालन करने का उपदेश है ।

गृहस्थो! सबकी आत्मा समान है। हरएक जीव सुखका अभिलाषी है। दुःख अथवा भय किसीको भी प्यारा नहीं। प्रत्येक प्राणी जीवन में जितना सुख मानता है, उससे कई हिस्से अधिक भय उसको मरण से है। हमारे पैर में यदि एक मामूलीसा कांटा भी लग जाता है तो उसकी वेदना से ही हम घबड़ा उठते हैं। किसी किसी को वह भी असह्य होजाती है तब जो लोग जंगल में फिरने वाले निरपराध अनाथ हरिण आदि जानवरों का शिकार करके खुशी मनाते हैं। एक तुच्छ जिह्वा के सुखके लिए इन विचारों के प्राण लेते हैं, उनका यह आचरण कहां तक ठीक है, ? यह बुद्धिमान स्वयं विचार लेवें आनन्द में बैठे अथवा फिरते या चरते हुए वन्य-पशु पक्षियों पर जिस वक्त शिकारी लोग गोली वगैरह का वार करते हैं उस वक्त उन बेचारों की जो दशा होती है उसको देखकर ऐसा कौन दयालु मनुष्य है जिसका हृदय दुःखके अनिवार्य स्रोत में बह न उठे ? मगर वाहरे शिकारी के दिल! तेरे पर उसका अणुमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता!! कितने मृगया प्रेमी महाशय उक्त कर्म को धर्म की पोशाक पहराने के बहाने ईश्वरीय आज्ञा बतलाते हैं। मगर यह ईश्वर की आज्ञा तो नहीं, किन्तु उसकी आज्ञा से विरुद्ध है। अतएव धर्म नहीं, अधर्म है। प्राणिमात्र को अपनी आत्मा के समान समझना ही मनुष्यत्व है। यही परम धर्म है। इसलिए "अहिंसा परमो धर्मः" के सिद्धान्तको जीवन पर्यन्त अपने हृदय पर अङ्कित कर लेना चाहिए।

महानुभावो! अधिकतर हिंसा तो मांसाहारके निमित्त से हो रही है! मांस खाने का निषेध हिन्दू-शास्त्रों के सिवाय अन्यत्र भी

देखा जाता है। पारसी भाइयों की पुस्तक शाहनामे में लिखा है कि, हमारा जरथोस्ती धर्म ऐसा पवित्र है कि, इसमें न तो पशुको मार कर खाने की आज्ञा और न शिकार करने की। इसी तरह मुसलमान भाइयोंकी धर्म पुस्तकमें भी मनुष्य को उपदेश देते हुए कहा है कि "तू अपने पेट को पशु पक्षियों की कबर न बना" तथा ईसाइयों को आज्ञा की गई है कि, तू हिंसा मत कर। तू मेरी तरह पवित्र होकर रह। तैने जंगलके किसी भी पशु को मार कर उसका मांस खाना नहीं। सूक्ष्म विचार से देखें तो मांसाहार की छूट किसी भी धार्मिक ग्रंथ में आपको न मिलेगी।

सज्जनो! सूक्ष्म विचार को छोड़ स्थूल दृष्टि से ही विचार किया जाय तो भी मांसाहार आपको युक्ति-संगत प्रतीत न होगा। आप लोग न्याय मंदिरमें बैठे हुए हैं, इसलिए आशा कि, न्याय को अपने हृदय में अवश्य स्थान देोगे। जब कोई हिन्दू मर जाता है तो उसके साथ श्मशान में जाने वाले आदमी अपने आपको अपवित्र समझते हुए स्नान करते हैं, और कपड़े धोते हैं। अब विचारना चाहिये कि, जिस मुरदे के साथ जाने अथवा स्पर्श मात्र से अपवित्ता आजाती है। तो क्या मुरदे को पेटमें डालने से डालनेवाला पवित्र रह सकेगा? एक भी लहू का छींटा बदन पर या कपड़े पर पड़ जाय तो मांस खाने वाले महाशय उसे मलमल कर धोते हैं, मगर अफसोस है कि, उसी रुधिर लहू के लोथड़े (मांस) को अपने पेटमें डालते हुए अणुमात्र भी नहीं हिचकते। हमारे मुसलमान भाई अपने पवित्र धाम मक्का शरीफ की यात्रा में हर

क तरह के जीव की हिंसा की मनाही करते हैं। इससे सिद्ध
ता है कि, उनके कथनानुसार ही ईश्वरको कुरबानी प्यारी नहीं।
दि उक्त कर्म से ईश्वरको प्यार होता तो वह (खुदा) अपने स्थान
र उसका निषेध न करता।

गृहस्थो! मांसाहार शास्त्र-विरुद्ध है इतना ही नहीं किन्तु
सृष्टिक्रम से भी विरुद्ध है। सृष्टिमें मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं में
प्राकृत नियम के पालन का वर्ताव स्पष्ट देखने में आता है। और
उक्त नियम को पालन करते देखे भी जाते हैं। सिंह चाहे
कितना ही क्षुधा से पीड़ित हो परन्तु वह मांस के सिवा अन्य
वस्तु (घास वगैरह) को कदापि न खायगा। एवं गाय को चाहे
कितना ही कष्ट प्राप्त हो मगर वह मांस को कदापि नहीं खा
सकती। मनुष्य के स्वाभाविक आहार का विचार करने से मालूम
होता है कि मनुष्य मांसाशी नहीं है। मांसाहारी और फलाहारी
पशु समुदाय के मध्य में यदि मनुष्य को खड़ा किया जाय तो
उसका सादृश्य फलाहारी पशुओं से ही हो सकता है। जो जीव
स्वाभाविक मांसाहारी हैं उनको रात्रि में अधिक दिखाई पड़ता
है, भागने से पसीना नहीं आता उनके दांत तीखे होते हैं और वे
जीभ से लप लप करके पानी पीते हैं। मगर जिन पशुओं का
स्वाभाविक आहार वनस्पति है उनका व्यवहार मांसाशी जीवों की
अपेक्षा सर्वथा विपरीत देखा जाता है। अर्थात् वे रात्रि में नहीं
देखते, उन्हें अधिक चलने से पसीना आता है, दांत उनके चपटे
होते हैं, और वे होठोंसे पानी पीते हैं। उदाहरण के लिए सिंह

और गौ समझिए। मनुष्य के सम्बन्ध में विचार करने से उसकी तुलना वनस्पति का आहार करने वाले गाय आदि जानवर से ही हो सकती है। मांसभोजी सिंह आदि पशुओं के सदृश समझ कर उसे वृथा ही दयाहीन हिंसक बनाना सत्य और न्याय नहीं! नहीं! मनुष्यत्व का भी नाश करना है। जो लोग सृष्टि क्रम से विरुद्ध होने पर भी अपने क्षण भर के मजे के लिए अनाथ पशुओं के मांस से अपने मांस की पुष्टि करते हैं उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, उनके लिए इसका परिणाम बहुत भयंकर होगा। प्रकृति के यहां किसी का भी लिहाज नहीं। इसलिए यदि आपको अहिंसा धर्म से प्रेम है, और आप संसार में शान्ति चाहते हैं तो मांसाहार के प्रचार को रोको।

इसके सिवा सत्य भाषण करना साधु का दूसरा नियम है। यह नियम गृहस्थ के लिए भी सर्वदा अनुष्ठेय है। सत्य का कितना प्रभाव है, और सत्य बोलने से आत्मा कितना उन्नत हो सकता है, यह आप लोग स्वयं ही विचार कर सकते हैं। इसलिए सत्य पर विशेष विचार न करता हुआ अब साधु के अदत्तादानविरमण रूप तीसरे नियम पर कुछ आप लोगों के ध्यान को खैंचता हूँ। अदत्तादान का अर्थ है बिना दिये हुए लेना। साधु को बिना दिये किसी भी पदार्थ को ग्रहण करना अनुचित है। किसी के देने पर भी साधु को वही वस्तु ग्रहण करनी चाहिए जो कि उसके ग्रहण करने योग्य हो।

साधु को इतना ध्यान हर वक्त रखना चाहिए कि, उसका प्रत्येक आचरण निष्पाप हो। गृहस्थों के लिए साधु का एक भी

व्यवहार भारभूत न होना चाहिए। साधु को क्षुधा निवृत्ति के लिए अन्न लाने का अधिकार भी एक गृहस्थ के घर से नहीं। उसे मधुकर वृत्ति से निर्वाह करने की शास्त्रों में आज्ञा है। जिस समय मधुकर (भौंरा) अनेक पुष्पों पर बैठता हुआ वहाँ से थोड़ा थोड़ा रस लेकर अपना निर्वाह करता है, और पुष्पों को किसी प्रकार की क्षति भी नहीं पहुंचती इसी तरह साधु को अनेक घरों से थोड़ी थोड़ी भिक्षा लेकर अपना निर्वाह करना चाहिए। गृहस्थ के घर से साधु को उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिए जितनी से गृहस्थ को फिर नई बनाने की आवश्यकता न पड़े। जो लोग उक्त शास्त्रीय नियम का भंग करते हैं, वे लोग संसार में उपकार रूप होने के बदले निस्सन्देह भार रूप हैं।

चतुर्थ नियम साधु का ब्रह्मचर्य है। यह इतना व्यापक और आवश्यक है कि, इस पर ही समस्त विश्व की धार्मिक स्थिति अवलंबित है। ब्रह्मचर्य संसार के समस्त रत्नों में से एक अमूल्य रत्न है। जिस साधु के पास यह रत्न मौजूद है—वह जौहरी है, वह धनवान है। वह राजा है। वह महाराजा है। वह मालामाल है। कहां तक कहूँ ? उसके पास तमाम दुनियां की दौलत है। जिस साधु ने इस अमूल्य रत्न को क्षण-मात्र के विषय सुख के बदले में बेच दिया है वह ठगा गया- इतना ही नहीं किन्तु सड़े हुए कुत्ते की तरह उसकी घृणित दशा प्रतिव्यक्ति के अनादर का विषय हो पड़ती है! (तालियां) साधु के और नियम के पालन में दैवयोग यदि त्रुटि भी हो जाय तो क्षंतव्य है! परन्तु ब्रह्मचर्य

व्रत के भंग का अधिकार साधु को किसी भी अवस्था में नहीं है। प्राण भले ही कल जाने वाले हों तो आज जायं मगर ब्रह्मचर्य व्रत में क्षति न आनी चाहिए।

सभ्य श्रोतृगणो! कामरूप महा-तस्कर से आत्मरूप धन को शरीररूपी दुर्ग में सुरक्षित रखने के लिए ब्रह्मचर्य एक बड़ी मजबूत अर्गला है। इसलिए ब्रह्मचर्य की सुरक्षा में साधु को बहुत सावधान रहना चाहिए। साधु के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य गृहस्थ का भी अनूठा भूषण है। गृहस्थ यद्यपि सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करने में बाध्य है, तथापि उसे स्वस्त्री संतोष और परस्त्री त्याग व्रत में तो अवश्य दृढ़ रहना चाहिये। मोक्षरूप उन्नत प्रासाद में सदा के लिए निवास का होना ब्रह्मचर्य रूप सोपान पर ही निर्भर है! कहां तक कहूं यह ब्रह्मचर्य आंतरिक दिव्य ज्योति है। जीवन में प्राण है। आत्मिक दिव्य संपत्ति का मूल स्थान है। जिसने इसे खोया उसने सर्वस्व खोया। (तालियां)

साधु का पांचवा नियम है परिग्रह त्याग। अर्थात् किसी भी वस्तु में ममत्वका न रखना। अगर साधु ही सांसारिक पदार्थों पर ममत्व रखने लग जाय तो साधु और गृहस्थ में सिवा वेष के और कोई अधिकता नहीं। साधु को पैसा रखना स्त्री रखना, मकान बनाना, ये तीनों काम त्याग हैं। जो इन तीनों को रखते हैं वे साधुता से कोसों दूर हैं। साधु कहलाने वाले को कम से कम अपने वेष की विडम्बना पर तो अवश्य ध्यान देना चाहिए। इसलिए संसार और आत्मा की भलाई में तत्पर रहकर

सादी सरल निष्कपट और सची जिन्दगी बसर करना साधुता का सच्चा स्वरूप है !

सज्जनो ! मैंने जो कुछ कहा है वह किसी पर आक्षेप बुद्धि से नहीं कहा, मैंने केवल वस्तुस्थिति पर आपके सामने विचार किया है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमों को यथावत् पालन करने वाला साधु, तथा राग और द्वेष से सर्वदा मुक्त देव एवं उसका कहा हुआ धर्म, इन तीनों रत्नों को परीक्षा पूर्वक ग्रहण करना ही मनुष्य के वास्ते उचित है । उक्त रत्न त्रय ही आत्मिक शान्ति देने वाले हैं । और यही सार्वजनिक धर्म के मूल स्रोत हैं । और इन्हीं का नामान्तर सबका हितकारी सुखकारी सार्वजनिक धर्म है ।

सभ्यो ! मैंने आज आपका बहुतसा समय लिया है मगर परस्पर धार्मिक विचारों में समय का व्यय करना उचित ही है । मेरे कथन पर आप लोग कुछ विचार करने की उदारता दिखावेंगे ऐसी आशा रखता हुआ मैं अब अपने व्याख्यान को समाप्त करता हूं । ॥ ॐ शान्तिः ३ ॥

शिवमस्तु सर्वजगतः,
परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं,
सर्वत्र सुखीभवन्तु लोकाः ॥